॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष : २
अंक : ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
२४७३

❀ सम्यग्दर्शन ❀

सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिये तन-मन-धन सर्वस्व समर्पित करे, शिरच्छेद होने पर भी कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को न माने; कोई शरीर को जला दे तो भी मन में क्रोध न करे और परिग्रह में वस्त्र का एक तार भी न रखे, तथापि आत्मा की पहिचान के बिना जीव की दृष्टि पर के ऊपर और शुभराग पर रह जाती है, इसलिए उसका मिथ्यात्व का महापाप दूर नहीं होता। स्वभाव को और राग को उनके निश्चित लक्षणों के द्वारा भिन्न-भिन्न जान लेना ही सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण है। निमित्त का अनुसरण करनेवाला भाव और उपादान को अनुसरण करनेवाला भाव-दोनों भिन्न हैं। प्रारंभ में कथित वे सभी भाव निमित्त का अनुसरण करते हैं। निमित्त के बदल जाने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु निमित्त की ओर के लक्ष को बदलकर उपादान में लक्ष करे तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त के लक्ष से बंध है और उपादान के लक्ष से मुक्ति।

[पूज्य श्री कानजी महाराज द्वारा दिये गये श्री समयसार पर प्रवचन में से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग २३ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म : वर्ष : २ : अंक : ११ : २३ : फाल्गुन : : २४७३ :

ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर

आत्मा अपने उपयोग को ही कर सकता है; परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। इस सिद्धांत को श्री समयसारजी के कर्ताकर्म अधिकार में अत्यंत स्पष्ट दृढ़ता और बड़ी ही सुंदरता के साथ समझाया गया है। उसमें कहा है कि:—

१—(गाथा ८६ भावार्थ) 'आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल के परिणाम को कर्ता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो। आत्मा और पुद्गल दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है, इस प्रकार माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। यदि जड़, चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के बदल जाने से सब का लोप हो जायगा, यह सबसे बड़ा दोष उत्पन्न होगा।'

२—(कलश ५३, भावार्थ) 'दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न हैं, प्रदेशभेदवाली हैं, दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती, एक परिणमन को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती, ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमन करने लगें तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जायगा।'

(कलश ५४, अर्थ) 'एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म अथवा दो क्रियाएँ भी नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।'

३—(कलश ५६, अर्थ) 'आत्मा तो सदा अपने भावों को कर्ता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है क्योंकि जो अपने भाव हैं, वे स्वयं ही हैं और जो परभाव हैं, वे पर ही हैं (यह नियम है)।'

४—(कलश ६१, अर्थ) 'इस प्रकार वास्तव में जीव अपने को अज्ञानरूप अथवा ज्ञानरूप करता हुआ अपने ही भावों का करता है, वह परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्ता कदापि नहीं है।'

(कलश ६२, अर्थ) 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? आत्मा को परभावों का कर्ता मानना (अथवा कहना) व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

इस प्रकार जीव, पर की क्रिया को नहीं कर सकता किन्तु जीव अपनी ही क्रिया का करता है। यदि जीव यह जान ले कि वह स्वयं कौन सी क्रिया कर सकता है और कौन सी क्रिया नहीं कर सकता तो, क्योंकि वह परद्रव्य की किसी भी क्रिया को स्वयं नहीं कर सकता, इसलिये परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकार दूर हो जाय और वह अपनी परिणाम क्रिया को देखना सीख ले। जब जीव अपने परिणाम क्रिया को देखना सीख लेता है, तब अपने जिन परिणामों से अपनी हानि होती हुई जानता है, उस परिणाम को छोड़ देता है और अपने जिस परिणाम से अपना लाभ होता देखता है, उस परिणाम का आदर करता है और ऐसा करने से दु:ख दूर होकर सुख होता है किन्तु जब तक जीव यह नहीं जानता कि वह स्वयं क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता, तब तक वह अपने सुख का सच्चा उपाय नहीं कर सकता।

इस संबंध में पूज्य श्री कानजी महाराज ने अनेक बार भार पूर्वक कहा है कि—

१—अनादि से लेकर आजतक तूने किसी भी परजीव को अथवा जड़ को किंचित्मात्र भी लाभ या हानि नहीं पहुँचाई।

२—आजतक किसी परजीव अथवा जड़ ने तुझे किंचित्मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

३—आजतक तूने अपने लिये सतत मात्र हानि का ही धंधा किया है और जब तक सच्ची समझ प्राप्त नहीं करेगा, वहाँ तक उस हानि का धंधा चलता ही रहेगा।

४—तूने जो हानि की है, वह हानि तेरी क्षणिक अवस्था में हुई है-तेरी त्रैकालिक वस्तु में नहीं हुई।

५—तेरी चैतन्य वस्तु ध्रुव अविनाशी है, उस स्वभाव की ओर लक्ष्य करे तो शुद्धता प्रगट हो और अशुद्धता दूर हो अर्थात् हानि दूर हो और अटल लाभ हो।

इन उपरोक्त ५ बोलों में महान सिद्धांत निहित है। इनमें बताया गया है कि जीव अनादि काल से आजतक परिभ्रमण करता रहा है, उसमें उसने क्या किया और अब उसे क्या करना चाहिये कि जिससे उसका परिभ्रमण दूर हो जाय। मुमुक्षु जीवों को यह पाँचों बोल अपने हृदय में अंकित कर लेने चाहिये और उनके स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। श्री जैन स्वाध्याय मंदिर (सोनगढ़) में जो सिद्धांत सूत्र अंकित हैं, उनमें एक सिद्धांत यह भी है कि "चैतन्य पदार्थ की क्रिया चैतन्य में ही होती है, जड़ में नहीं होती।"

ज्ञानसुधा स्तवन

सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत की महिमा

—जिनेन्द्र स्तवन मंजरी पृष्ठ १०—

१- चेतन! मोह को संग निवारो, ग्यान सुधारस धारो चेतन!

अर्थः—हे ज्ञानस्वरूप आत्मा! अब तू अनादि से धारण किये हुये अज्ञान का साथ छोड़ और इस सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत को धारण कर।

२- मोह महातम मल दूरे रे, धरे सुमति परकाश;
मुक्ति पंथ परगट करे रे, दीपक ज्ञान विलास... चेतन!

अर्थः—ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश होने पर सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करके ज्ञान महा अज्ञान-अंधकाररूपी मैल को दूर करता है और मुक्ति के मार्ग को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को) प्रगट करता है, इसलिये हे चेतन! तू मोह को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

३- ज्ञानी ज्ञान मगन रहे रे, रागादि मल खोय;
चित्त उदास करनी करे रे, कर्मबंध नहि होय... चेतन!

अर्थः—ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप में लीन रहता है, रागादिक अशुद्धता को छोड़ता है; (दूर कर देता है) जीव जब राग-द्वेष रहित की क्रिया ज्ञान में करता है, तब उसे कर्मबंध नहीं होता... इसलिये हे चेतन! तू मोह को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

४- लीनभयो व्यवहार में रे, युक्ति न उपजे कोय;
दीन भयो प्रभु पद जपे रे, मुगति कहांसु होय.... चेतन!

अर्थः—जो जीव, शुभरागरूप व्यवहार में ही रत हो गया है और अंतर में सम्यग्ज्ञानरूपी कोई कला जागृत नहीं हुई, वह जीव दीन होकर (अर्थात् अपने परिपूर्ण स्वरूप की पहिचान किये बिना) परमात्म पद का जाप करे तो भी उसकी मुक्ति कहाँ से होगी? इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान का साथ छोड़ दे और सच्चे ज्ञान को धारण कर।

५- प्रभु समरो पूजा पढ़ो रे, करो विविध व्यवहार;
मोक्ष स्वरूपी आतमा रे, ग्यान गमन निरधार.... चेतन!

अर्थः—भगवान का स्मरण, पूजन, कीर्तन और इसी तरह के कई व्यवहार पद के योग्य

किये जाते हैं किन्तु मोक्षस्वरूप तो अपना आत्मा है, ऐसा ज्ञान में बराबर निर्णय कर.... हे चेतन! अज्ञान का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

६- ग्यानकला घटघट बसे रे, जोग जुगति के पार;
निजनिजकला उद्योत करे रे, मुगति होय संसार... चेतन!

अर्थः—मन, वचन, काय की क्रियाओं और विकल्पों से परे चैतन्य ज्ञानकला प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है और स्वयं अपनी उस ज्ञानकला का (सच्ची श्रद्धा-ज्ञान के द्वारा) उद्योत करने से जीव, संसार से मुक्ति प्राप्त करता है... इसलिये हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और ज्ञानकला को प्रगट कर।

७- बहुविध क्रिया क्लेषसूरे, शिवपद न लहे कोय;
ग्यानकला परकाशसो रे सहज मोक्षपद होय... चेतन!

अर्थः—कलेशवाली अनेक तरह की शुभ-अशुभ क्रियाएं (शुभाशुभभाव) करने पर भी कोई जीव, आत्मा की शुद्धदशा प्राप्त नहीं कर सकता किंतु भेदज्ञानरूपी कला के प्रकाश के द्वारा सहज में आत्मा की पूर्ण शुद्धता (मुक्ति) होती है, इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़ और भेदज्ञानरूपी अमृत रस को धारण कर।

८- अनुभव चिंतामणी रतन रे, जाके हइए परकाश;
सो पुनीत शिवपद लहे रे, दहे चतुर्गति वास.... चेतन!

अर्थः—अनुभव चिंतामणि रत्न के समान है। जिसके अंतर में आत्मानुभव का प्रकाश प्रगट हुआ है, वह पवित्र मोक्षपर्याय को प्राप्त करता है और चारों गति के जन्म-मरण का नाश करता है, इसलिये हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

९- महिमा सम्यक् ग्यान की रे, अरुचि राग बल जोय;
क्रिया करत फल भुंजते रे, कर्मबंध नहि होय... चेतन!

अर्थः—अहो! सम्यग्ज्ञान की महिमा देखो! राग के प्रति अरुचि के बल से अल्प राग की क्रिया करने पर भी उसके फल को सम्यग्ज्ञान मिटा देता है (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव, राग का स्वामी नहीं होता, इसलिये उसके राग का फल भी नहीं होता) इस तरह उसके कर्म का बंध नहीं होता; इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़ और ऐसे सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१०- भेदज्ञान तबलों भलो रे, जबलों मुक्त न होय;
परम ज्योति परगट जिहां रे, तिहां विकल्प नहि कोय... चेतन!

अर्थः—इस भेदज्ञान का अभ्यास तब तक करने योग्य है, जब तक मुक्ति नहीं होती और इस तरह भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते जब केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट होती है, तब वहाँ कुछ विकल्प नहीं होता; इसलिये हे चेतन! अज्ञान के साथ को छोड़कर भेदज्ञानरूपी सुधारस को धारण कर।

११- भेदज्ञान साबु भयो रे, समरस निर्मल नीर,
धोबी अंतर आतमारे, धोवे निजगुण चीर... चेतन!

अर्थः—इस भेदज्ञानरूपी साबुन और समतारस (वीतरागभाव) रूपी जल के द्वारा अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी जीव अपने गुणरूपी वस्त्र को धोता है-पवित्र करता है। हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़कर भेदज्ञान को धारण कर।

१२- राग विरोध विमोह मली रे, ये ही आस्त्रव मूल;
ये ही करम बढ़ाय के रे, करे धर्म की भूल.... चेतन!

अर्थः—मिथ्यात्व के महामोह के साथ मिला हुआ जो रागद्वेष है, वही मुख्य आस्त्रव है और वही (मिथ्यात्व ही) आत्मा की अशुद्धता बढ़ाकर धर्म की भूल करता है अर्थात् आत्मा की पवित्रता को रोकता है, इसलिये हे चेतन! उस मोह को छोड़कर तू सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१३- ग्यानरूपी आत्मा रे, करे ग्यान नहि और;
द्रव्यकर्म चेतन करे रे, येह व्यवहार की दोर.... चेतन!

अर्थः—यह आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, वह जाननेवाला ही है, ज्ञान के अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं करता। ज्ञानस्वरूपी आत्मा, द्रव्यकर्म बाँधता है, यह व्यवहार की रीति (कथनमात्र) है और वास्तव में ऐसा मान लेना, यह अज्ञानी जीव की रीति है, इसलिये हे चेतन! अज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१४- करता परिणामी द्रव्य रे, कर्मरूप परिणाम;
किरिया परजय की फिरत रे, वस्तु एक त्रयनाम.... चेतन!

अर्थः—जिस अवस्थारूप से द्रव्य स्वयं परिणमे, उस अवस्था का वह द्रव्य कर्ता है और जिस अवस्थारूप परिणाम हुए, वह उसका (कर्ता का) कार्य है। एक परिणाम से दूसरे परिणामरूप बदलना, सो द्रव्य की क्रिया है; कर्ता, कर्म और क्रिया ऐसे तीन नाम भेद हुये हैं परंतु वे तीनों एक ही वस्तु हैं, भिन्न नहीं।

नोट—इसमें स्पष्ट कहा है कि कर्ता, कर्म और क्रिया एक ही द्रव्य में होते हैं, किसी द्रव्य का कर्ता, कर्म अथवा क्रिया उस द्रव्य से कदापि पृथक्-भिन्न नहीं होती अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका बदलना (परिणमन) ज्ञान स्वरूप ही है, इसलिये आत्मा ज्ञान का ही कर्ता है और ज्ञान ही आत्मा की क्रिया है, आत्मा पर का कर्ता नहीं है। चैतन्य पदार्थ की क्रिया चैतन्य में ही होती है, चैतन्य पदार्थ की क्रिया पर में नहीं होती। इस प्रकार समझकर हे चेतन! तू मोह को छोड़ और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१५- करता, कर्म, क्रिया करे रे, क्रिया करम करतार
नाम भेद बहुविध भये रे, वस्तु एक निर्धार... चेतन!

अर्थ:—अमुक कर्ता अमुक कर्म और क्रिया को करता है, तथा अमुक क्रिया और कर्म उस अमुक कर्ता का किया हुआ है-इस तरह अनेक प्रकार से नाम भेद हैं परंतु कर्ता, कर्म, और क्रिया यह तीनों वस्तुऐं तो एक ही द्रव्य हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिये, इससे यह निर्णय हुआ कि आत्मा, ज्ञान और ज्ञान की क्रिया तीनों अभेदरूप एक ही हैं, इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१६- एक कर्म कर्तव्यता रे, करे न करता दोय;
तेसें जस सत्ता सधीरे एक भाव को होय... चेतन!

अर्थ:—एक कर्म का कर्तृत्व दो कर्ताओं का नहीं है अर्थात् दो द्रव्य मिलकर एक अवस्था नहीं करते, इसलिये जो सब होने रूप वस्तुऐं हैं, वह प्रत्येक अपने एक भाव की ही कर्ता है, किसी दूसरे भाव की कर्ता नहीं है, ऐसा जानकर हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतरस को-अंगीकार (स्वीकार) कर।

साधु किसे कहते हैं

लेखक–रामजीभाई माणेकचंद दोशी

साधुपद की महत्ता

१—साधुपद एक सामान्य पद नहीं है किन्तु महान पद है। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरदेव के धर्म मंत्री गणधरदेव नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हुये जगत् के सर्व साधुओं को नमस्कार करते हैं। जिन्होंने आंशिक वीतरागता प्रगट की है और पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, वे ही साधु हो सकते हैं और इसलिये वे ही धर्मबुद्धि से नमस्कार के योग्य हैं। गणधरदेव जैसे चार ज्ञान के स्वामी जिन्हें नमस्कार करते हैं, वे कैसे पवित्र आत्मा होना चाहिये, इसका यदि थोड़े समय भी विचार किया जाय तो तटस्थ जीवों को तुरंत मालूम हो जाय कि साधुपद एक महान् पद है और उसकी संख्या जाज्वल्यमान धर्मकाल में भी अल्प होती है और इस वर्तमान विषम काल में तो लगभग शून्य के समान ही समझना चाहिये।

जिज्ञासु और प्रमुखों का कर्तव्य

२—जो अपने को साधु मानते हैं और दूसरों से अपने को साधु मनवाना चाहते हैं, उनकी संख्या आज कल बहुत बड़ी दिखाई देती है और इसमें इतनी तीव्रता के साथ किसी न किसी प्रकार वृद्धि होती रहती है कि उनको साधु मानने में जिज्ञासुओं को आनाकानी हुये बिना नहीं रहती; इसलिये जिज्ञासुओं और समाज के प्रमुखों को इस बारे में बहुत गंभीर अभ्यास और विचार करने की जरूरत है।

असाधु को साधु स्वीकार करने (मानने) का फल

३—जीव अज्ञानता के कारण अनादि से दु:खी है। जीव की यदि मूलभूत भयंकर भूल न हो और उस भूल का पोषण पल-पल में वह न किया करता हो तो दु:ख हो ही नहीं। 'असाधु' को 'साधु' के रूप में मानने से इस अज्ञानदशा को पुष्टि मिलती है। इस नई पुष्टि को शास्त्र की परिभाषा में 'गृहीत मिथ्यात्व' कहा गया है, इस गृहीत मिथ्यात्वरूपी खोटी (असत्) मान्यता का नाश किये बिना किसी भी जीव के अनादि काल से चला आया अज्ञान और दु:ख (जिसे अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है वह) चाहे वह जीव धनवान हो या निर्धन, उसके दूर ही नहीं होता प्रत्युत अधिक पुष्ट होता जाता है।

अंधश्रद्धा अंगीकार करने योग्य नहीं है

४—जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं और विचारकों को अंधश्रद्धा स्वीकार करना योग्य नहीं है। उन्हें साधु पद क्या है, इसका सत्य निर्णय करने की आकांक्षा होती है। जो लौकिक शिक्षा में आगे बढ़े हुये हैं, बुद्धिशाली हैं, वे अपनी कुल परंपरा से चली आई साधु पद की मान्यता यथार्थ है या नहीं—इसका यदि निर्णय करना चाहें तो तुरंत ही कर सकते हैं, वे ऐसी शक्ति रखते हैं, इसलिये साधु किसे कहना चाहिये—यह यहाँ बताया जाता है।

'साधु' का अर्थ

५—'साधु' भावसूचक शब्द है, इसलिये यह शब्द किस भाव को सूचित करता है (बताता है) इस पर यहाँ विचार करते हैं—

यह विचार करते हुये प्रश्न उठता है कि 'साधु' शब्द किसी वस्तु को सूचित करता है या किसी गुण को सूचित करता है अथवा किसी गुण की अवस्था को सूचित करता है ? इसका उत्तर यह है कि वह जीवद्रव्य के चारित्रगुण की शुद्ध अवस्था को बतलाता है। 'साधु' शब्द का सामान्य अर्थ ऐसा होता है—'जो साधे (सिद्ध करे) सो साधु' इस शब्द को धर्म के अर्थ में प्रयोग किया जाय तो उसका अर्थ ऐसा होता है कि 'आत्मा के शुद्धभाव को जो साधे, सो साधु है' इस तरह अर्थ होने से 'साधु' पद के धारक में निम्नलिखित गुण तो अवश्य होना ही चाहिये।

(१) आत्मा क्या है, इसका यथार्थ निर्णय उसे होना चाहिये।

(२) आत्मा का शुद्धधर्म क्या है, इसका यथार्थ ज्ञान उसे होना चाहिये।

(३) सम्यग्ज्ञानपूर्वक आत्मा की शुद्ध अवस्था को धारण करता हुआ धर्म उसमें प्रगट हुआ होना चाहिये और उस पद में वह आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये।

(४) उसका आचरण आत्मा की शुद्ध अवस्था को वृद्धिगत करनेवाला होना चाहिये।

इतना जो अर्थ हुआ है, उसमें इतना तो आ ही गया है कि—

(१) आत्मा क्या है, इसका यथार्थ ज्ञान जिसे न हो, वह साधु नहीं हो सकता।

(२) आत्मा क्या है, इसका यथार्थ ज्ञान जिसके न हो, उसे आत्मा का शुद्ध धर्म क्या है, इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और ऐसे ज्ञानरहित जीव, साधु नहीं हो सकते।

(३) और ''कुल में माना जानेवाला जो गुरु या साधु है, सो वह साधु है'' ऐसी साधुपद की व्याख्या नहीं है किंतु ऊपर कहे गये गुण जिनने प्रगट किये हों, वे ही साधु हैं।

साधु का स्वरूप

६—सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर, गृहस्थपना छोड़, विरागी बनकर समस्त परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोग धर्म स्वीकार करके अंतरंग में इस शुद्धोपयोग के द्वारा जो स्वयं स्व का (आत्मा का) अनुभव करता है, वह साधु है। वे परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते, इसलिये परद्रव्य का जीव कुछ कर सकता है—ऐसा वे नहीं मानते। अपने ज्ञानादिक स्वभाव को ही अपना मानते हैं; विकारीभावों में ममत्व नहीं करते। परद्रव्य तथा उसका स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित अवश्य होता है, किन्तु उससे आत्मा को कुछ लाभ-हानि होती हैं—ऐसा नहीं मानते और इसलिये उनके इष्ट-अनिष्ट की मान्यता नहीं है और वे उसमें राग-द्वेष नहीं करते। जो अल्प राग-द्वेष होता है, वह कर्म अथवा परवस्तु के कारण से नहीं होता किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण (अल्प अस्थिरता होने से) होता है—ऐसा वे मानते हैं। कदाचित् मंदराग के कारण शुभोपयोग होता है, तब पाँच महाव्रत का पालन करते हैं किन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करना चाहते हैं।

मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरणचारित्र में ही निमग्न हैं परंतु कभी धर्मरुचिवाले अन्य जीवों को देखकर करुणाबुद्धि से धर्मोपदेश देते हैं।

साधुओं के तीन प्रकार की कषाय का अर्थात् अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है और संज्वलनकषाय के देशघाती स्वर्द्धकों का ही उदय है, यह कषाय भी मंद ही है; इसलिये शीतादिक ऋतुओं के कारण से शरीर को चाहे जो हो तो भी उनके परिणाम व्याकुल नहीं होते और इसीलिये शरीर को ढ़कने अथवा उसकी रक्षा करने का भाव ही उनके नहीं होता, ऐसी उच्च प्रकार की उनकी पवित्रता है।

श्रीमद्राजचंद्र के उद्गार

७—श्रीमद् राजचंद्र कहते हैं कि वीतराग का मत लोक प्रतिकूल हो गया है, रुढ़ि से जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्ष्य में भी वह निश्चित नहीं मालूम होता अथवा अन्यमत को वीतराग का मत जानकर प्रवृत्ति करते जाते हैं। थोड़ा सत्य भी बाहर आने पर भी उनके प्राणघात तुल्य दुःख होता हो-ऐसा दिखाई देता है। और वे कहते हैं कि—

''ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस प्रकार मोक्षमार्ग चार प्रकार से कहा है फिर भी पहले के दो पद तो उनके भूले हुये जैसे होते हैं और चारित्र शब्द का अर्थ वेष तथा मात्र बाह्य स्थिति को ही समझने के समान होता है। 'तप' शब्द का अर्थ मात्र उपवासादिक व्रत का करना और वह भी बाह्य संज्ञा से उसमें समझने के समान होता है। फिर कदाचित् ज्ञान-दर्शनपद कहना पड़े तो वहाँ

लौकिक कथन जैसे भावों के कथन को ज्ञान और उसकी प्रतीति अथवा कहनेवाले की प्रतीति के संबंध में दर्शन शब्द का अर्थ ज्ञातव्य रहता है।''

और फिर वे ऐसा अभिप्राय बताते हैं कि संसार के कामधंधों में मुख्य रूप से जीव रुके रहते हैं। थोड़ा सा जो कुछ भी उनका समय रहता है, वह अधिकांश कुगुरु लूट लेते हैं।

आत्मसिद्धि शास्त्र में भी वे कहते हैं कि—

गच्छ मतनी जे कल्पना, ते नहि सद् व्यवहार।
भान नहि निज रूपनुं ते निश्चय नहि सार ॥१३३॥

उनका उपरोक्त कथन बड़ा रहस्यमय हैं। इसलिये समस्त योग्य जीवों को विचार करके रूढ़ि में न फंस कर साधु पद के अर्थ का यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

जिसके आत्मज्ञान नहीं वह साधु नहीं

८—जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ, उसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसका ज्ञान अथवा चारित्र सम्यक् हो ही नहीं सकता किन्तु मिथ्या ही होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले चौथा गुणस्थान भी प्राप्त नहीं होता तो फिर छठे और सातवें गुणस्थान जैसी उच्च दशा जो कि सच्ची साधुदशा है, वह उनके होगी ही कहाँ से ?

आत्मसिद्धि शास्त्र

९—इस शास्त्र में कहा है कि:—

आत्म ज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय।
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहिं जोय ॥३४॥

इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है।

यदि आत्मज्ञान होता है तो मुनित्व होता है अर्थात् जहाँ आत्म-ज्ञान नहीं होता, वहाँ मुनित्व संभव नहीं है। यदि सम्यक्त्व अर्थात् आत्मज्ञान हो तो मुनित्व हो सकता। जिसमें आत्मज्ञान होता है, वह सच्चा गुरु है। आत्मज्ञान से रहित होने पर भी अपने कुलगुरु को सद्गुरु (सच्चा साधु) मानना, सो कल्पनामात्र है। आत्मार्थी उन्हें साधु के रूप से स्वीकार नहीं करते।

साधुपद ग्रहण करने का क्रम

१०—मुनिपद ग्रहण करने का क्रम यह है कि पहले तत्त्वज्ञान होने के बाद उदासीन परिणाम हो, फिर परीषहादि सहन करने की शक्ति हो और वे गुण प्राप्त करके अपने आप ही मुनि होना चाहे, तब श्रीगुरु उसे साधु धर्म स्वीकार कराते हैं।

विपरीतता

११—आजकल ऐसी विपरीतता दिखाई देती है कि तत्त्वज्ञान से रहित (शून्य) जीवों को अनेक लाभ बताकर मुनिपद दिया जाता है। तत्त्वज्ञान दृष्टि हुये बिना विषयासक्तता दूर नहीं होती और इसलिये उनकी ओर से अन्यथा प्रवृत्ति का होना स्पष्ट ही है।

सावधानता की आवश्यकता

१२—देव, गुरु, धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, उनके आधार से ही धर्म है, यह मुख्य विषय होने पर भी यदि इसमें ही शिथिलता रखी जाय तो जीव धर्म का स्वरूप समझकर सच्चा धर्मी कब होगा? यह शिथिलता दूर करने के लिये सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्याग न करने से जीव के मिथ्यात्वभाव अधिक पुष्ट होता है; इसलिये सभी तरह से कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के त्याग की जरूरत है। इस क्षेत्र में आजकल, देव, गुरु और धर्म के संबंध में शिथिलता की और कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को मानने की प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती है; इसलिये उसके निषेधरूप से जो कथन सत्शास्त्रों में किया गया है, उसे जानकर सावधान होकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करना चाहिये।

वर्तमान समय में परिवर्तन

१३—श्रीमद् राजचंद्र के समय से वर्तमान में शिक्षा का प्रचार अधिक बढ़ गया है, इसलिये जब युवकों से कुछ भी स्वीकार करने को कहा जाता है, तब वे यही प्रश्न करते हैं कि "क्यों?" और वे उसका कारण भी जानना चाहते हैं, बुद्धिगम्य कारणों की माँग करके और उसकी परीक्षा करके सत्य ग्रहण करने की रीति प्रशंसा के योग्य है। फिर कुछ समय से लोगों में तत्त्वज्ञान को जानने की, पढ़ने की, और उसका अभ्यास करने की रुचि जागृत हुई है और वह वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। इसलिये उसे विशेष जागृत करके जो यह समझ लें कि 'साधुपद' क्या है, उन्हें लाभ हुये बिना नहीं रहता।

क्या करना चाहिये?

१४—इसलिये प्रत्येक धर्माभिलाषी जीव को 'साधु' का स्वरूप समझना चाहिये। क्योंकि उस संबंध का अज्ञान, आत्मा को महा हानि करनेवाला है, इस स्वरूप के समझने पर और सच्ची धर्म भावना के बढ़ने पर तत्त्वज्ञान की ओर गृहस्थ वर्ग की रुचि बढ़ेंगी और उससे बहुत सी अनिष्टता अपने आप दूर हो जायगी। ★

पहले क्या करना चाहिये ?

सभी आत्मा शक्तिरूप से तो भगवान ही हैं किन्तु अनादि से अपने स्वरूप के भान को भूले हुये हैं और अपने को तुच्छ पराधीन मान रखा है, इसीलिये वर्तमान दु:ख का अनुभव कर रहे हैं। यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझे तो उसे सुख प्रगट हो और दु:ख दूर हो। सबसे पहले स्वरूप को यथार्थ समझना ही योग्य है।

यहाँ कोई तर्क करता है कि ''तुम तो सभी को एक ही करने की कहते हो, परंतु बालकों को तो पहले लौकिक शिक्षा लेनी चाहिये, पीछे संसार चलाना सीखना चाहिये और इसके बाद समय मिले तो धर्म समझे'' तो उस तर्क का निम्न प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया जाता है:—

प्रश्न—बालक सुखी हो, ऐसा करना चाहिये कि दु:खी होवे, ऐसा करना चाहिये ?

उत्तर—सुखी होवे ऐसा करना चाहिये।

प्रश्न—बालक सच्चा समझे तो उसे सुख होता है कि खोटा समझे तो सुख होता है ?

उत्तर—सच्चा समझे तो ही सुख होता है।

प्रश्न—पहले से ही सच्चा समझना होता है कि पहले खोटा समझ कर पीछे सच्चा समझना होता है ?

उत्तर—पहले से ही सच्चा समझना होता है—पहले असत् को समझकर पीछे सत् को समझ लूँगा—ऐसा नहीं होता किन्तु जैसे ही असत् को असत् जाना, तैसे ही असत्य अभिप्राय को छोड़ देना चाहिये। ''पहले विष खाकर वह फैल जाय तब पीछे उसका उपाय करूँगा'' ऐसा नहीं होता, किन्तु 'यह विष है' यह जानने के बाद उसे खाता ही नहीं, इसलिये पहले उलटा समझ लेना चाहिये पीछे सच्चा समझ लूंगा—ऐसा नहीं होता... असत् को समझते समझते सत् की समझ होती ही नहीं किंतु सत् समझते ही असत् छूट जाता है... असत् को असत् जाना कि उसी समय असत् को छोड़कर सत् समझ लूंगा और असत्य को सर्वथा छोड़ ही दूँगा... इस प्रकार सत् का ही आदर होता है। इस कथन के अनुसार जो सत्य होता है, वह पहले से ही समझना होता है... और वह नियम तो सभी के लिये समान ही होता है। इसलिये पहले सत् असत् का विवेक कर सत् को समझना चाहिये। ★

श्री समयसारजी के रचयिता और समयसारजी की स्तुति

(परम पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन)

आज (ज्येष्ठ कृष्णा ८) श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का मांगलिक दिन है। इस परमागम शास्त्र में क्या है ? यह तो अनुभव से भीतर उतर कर देखें तब समझ में आयगा। इसमें अलौकिक चमत्कारिक मंत्र हैं।

जैसे तालाब के किनारे खड़े रहकर देखने पर तालाब का पानी मध्य में और किनारे पर एकसा मालूम होता है, ऊपरी दृष्टि से पानी की गहराई का पता नहीं लग सकता। तालाब के पानी की गहराई में बीच में और अंत में अंतर है। जो पानी की गहराई का नाप करना जानता है, वह यदि किनारे से भीतर को उतरे तो उसे पानी की वास्तविक गहराई का पता लग जाता है; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि के द्वारा द्वादशांगी श्रुत का जो एक धारावाही प्रवाह छूटा था, उसमें से इस शास्त्र की रचना हुई है। उसमें क्या रहस्य भरा हुआ है, इसका नाप यदि कोई ऊपरी दृष्टि से निकालना चाहे तो वह नहीं निकल सकता किन्तु यदि कोई भीतर उतर कर समझे तो ज्ञात होगा कि उसके भीतर केवलज्ञान का रहस्य भरा हुआ है।

महाविदेह में वर्तमान जीवनमुक्तदशा में श्री सीमंधर परमात्मा अरहंतदेव विराजित हैं। भरतक्षेत्र में विक्रम की प्रथम शताब्दी में महा निर्ग्रंथ मुनियों के नायक श्री कुंदकुंदाचार्य हो गये हैं। वे महाविदेह में श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे। सहज स्वभाव की अंतरंग आनंददशा में झूलते हुये और बाह्य में सहज दिगम्बरदशायुक्त श्री कुंदकुंदाचार्यदेव श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे और एक सप्ताह रहे थे। यह बात तीन काल और तीन लोक में कदापि बदल नहीं सकती। यह मात्र इसलिये नहीं कहा जा रहा कि यह बात शास्त्र और शिलालेखों में अंकित है, किन्तु यह बात अंतरंग से सिद्ध हो चुकी है।

भगवान की वाणी में एक साथ सब कुछ आ जाता है, उसमें भेद नहीं पड़ता, वह निरक्षर ध्वनि है। भगवान की वाणी में भेद क्यों नहीं पड़ता, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—

आत्मा में जबतक क्रोधादि युक्त दशा होती है, तब तक वाणी भी भेद युक्त होती है किन्तु जब संपूर्ण वीतरागदशा हो गई और पर्याय में कषाय का भेद दूर होकर अभेददशा प्रगट हो गई, तब

उसकी निमित्तरूप वाणी में भी अभेद आ जाता है। जहाँ तक क्रोधादि है, वहाँ तक विकार है। आत्मा अनंत गुण का अखंड पिंड है; इसलिये जहाँ गुण में विकार होता है, वहाँ अवस्था एकरूप नहीं रहती किंतु भेद पड़ जाता है; इसलिये उसकी वाणी में भी बहुत से अक्षरों के द्वारा भेद पड़ जाता है। सर्वज्ञ परमात्मा के संपूर्ण दशा प्रगट होने पर पर्याय अभेद हो जाती है, इससे उनकी वाणी भी अभेद एकाक्षरी हो जाती है, उस वाणी में सारी भाषा का समावेश हो जाता है, उस वाणी को सुनने के लिये गणधर, इंद्र, चक्रवर्ती, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सब आते हैं और सभी अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं।

भगवान को उपदेश की इच्छा नहीं होती, वे वीतराग होते हैं। कब कौन क्या पूछेगा और उसका क्या उत्तर होगा—यह सब एक ही समय में अपने अक्रम ज्ञान से (केवलज्ञान से) भगवान जानते हैं। वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा जीवनमुक्तदशा में तीर्थंकरपद पर बिराजमान है, उनके पास भरतक्षेत्र के महा मुनि श्री कुंदकुंदाचार्य गये थे और वहाँ से महा प्रवाहमय दिव्यवाणी को ग्रहण करके वापिस आये। उनने उसी आधार पर श्री समयसारजी आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस शास्त्र में दिव्यध्वनि का रहस्य उतारा गया है, इसका गूढ़ रहस्य ऊपर से देखने पर मालूम नहीं होता किंतु अंतरंग से देखें तो उसकी अपार महिमा समझ में आ जाती है। समयसार में अपार केवलज्ञान भरा हुआ है। इसके संबंध में क्या कहा जाय! इस समयसार की महिमा शब्दों के द्वारा नहीं कही जा सकती, वह तो शब्दों से परे है और मन से भी परे है। गाँवों में जिसके यहाँ २००-३०० मन अनाज पैदा होता हो, उसके यहाँ काम करनेवाले को २-३ मन अनाज मिलता है अधिक नहीं। किन्तु जिसके यहाँ हजारों मन अनाज उत्पन्न होता है, उसके काम करनेवालों को परिपूर्ण अनाज मिलता है। इसी प्रकार अल्पज्ञ उपदेशक की वाणी से श्रोताओं को थोड़ा उपदेश मिलता है और सर्वज्ञदेव की पूर्ण प्रवाहमय दिव्यध्वनि में से पात्र श्रोताओं को श्रुत का महा प्रवाह प्राप्त होता है। महाविदेह में सीमंधर भगवान की धर्म की प्रभावमय पीढ़ी चल रही है, उनकी उस दिव्यध्वनि का साक्षात् लाभ भगवान कुंदकुंदाचार्य को एक सप्ताह तक मिलता रहा था और फिर उनने इस समयसार की रचना की थी। इस समयसार में बहुत गहराई में अमाप अगाध अति अगाध भाव भरे हुये हैं।

अहा! कुंदकुंदाचार्य की क्या बात कही जाय! अपनी अंतरंग दशा के संबंध में उनने समयसार ६ गाथा में स्वयं कहा है कि—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति शुद्धं णादो जो सो दुसो चेव॥६॥

इस गाथा में आचार्यदेव ने अपनी वर्तमान भूमिका पर बात स्थापित की है। सीमंधर भगवान के पास से कुंदकुंदाचार्य को पूर्ण आत्मा का स्वरूप बिल्कुल नि:शंकता से प्राप्त हुआ है। वे कुंदकुंदाचार्य मुनियों के नायक थे। भरतक्षेत्र में धर्म को प्रवाहित करनेवाले महान् संत थे। छठी गाथा में उनने ज्ञायक का ही वर्णन किया है। जो एक ज्ञायकभाव है, वह न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है, इस प्रकार शुद्ध का कथन किया गया है, जो ज्ञात है, वह तो ज्ञात ही है।

आचार्यदेव सातवें और छठे अप्रमत्त एवं प्रमत्त गुणस्थान की दशा में झूल रहे हैं, वे दोनों भंगों का निषेध करते हुये कहते हैं कि मैं न तो अप्रमत्त हूँ और न प्रमत्त। मैं ज्ञायक हूँ। 'अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं हूँ' ऐसा क्यों कहा है? मैं अकषाय-सकषाय नहीं हूँ अथवा मैं अयोगी-सयोगी नहीं हूँ—ऐसा क्यों नहीं कहा। 'णवि होदि अप्पमत्तो' अर्थात् मैं अप्रमादी नहीं हूँ तथा 'ण पमत्तो' अर्थात् मैं प्रमादी नहीं हूँ किन्तु इन दोनों दशाओं के भेद से रहित मैं ज्ञायकभाव हूँ—ऐसा क्यों कहा है? आचार्यदेव स्वयं सातवीं और छठी भूमिका में झूल रहे हैं, इसलिये उपरोक्त गाथा में भी सहज भाव से उपरोक्त दृष्टि से कथन किया है।

यह छठी गाथा विधि के लेख की तरह टंकोत्कीर्ण हैं। शास्त्र रचना का विकल्प उठा किंतु आत्मा से अक्षर की रचना नहीं होती तथा जो विकल्प उठता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं हैं और तो क्या अप्रमत्त-प्रमत्त दशा का भेद भी मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक हूँ। इस प्रकार छठी गाथा में केवलज्ञान का प्रारंभ किया है। इस गाथा में अपना अंतरंग निचोकर रख दिया है। स्वयं वर्तमान अप्रमत्त-प्रमत्तदशा के बीच प्रवर्तमान हैं, इसलिये गाथा में वे ही शब्द आये हैं। अभी अपनी अकषायदशा प्रगट नहीं हुई और साधकदशा में अप्रमत्त-प्रमत्तदशा के दो भेद आते हैं, उस भेद का निषेध करते हुये कहते हैं कि अप्रमत्त अथवा प्रमत्त नहीं हूँ, मैं तो अखंडानंद ज्ञायक हूँ, इस प्रकार इस गाथा में आचार्यदेव ने अभेद ज्ञायकभाव का अनुभव उतारकर रख दिया है। अपने अनुभव की जो दशा है, उस दशा से वर्णन किया है।

अवस्था के जहाँ दो भेद हो सकते हैं, मैं वह नहीं हूँ। मैं ज्ञायक ज्योति ही हूँ, त्रिकाल आनंद स्वरूप ही हूँ। 'आनंद नहीं था' और 'आनंद प्रगट करता हूँ' इस प्रकार के भेदरूप दो पहलुओं का मैं इस समय स्पष्ट निषेध करता हूँ; इस समय तो मात्र ज्ञायकभाव ही दिखाना है। मैं एकरूप

ज्ञायकभाव परमपारिणामिकभाव हूँ अर्थात् मैं कारणपरमात्मा हूँ। 'मैं कारणपरमात्मा हूँ' यह कहने पर अपनी वर्तमान स्वभाव की ओर ढलती हुई निर्मलदशा भी इसके साथ ही आ जाती है क्योंकि कारणपरमात्मा को प्रतीति में लेनेवाली तो वह पर्याय है।

कारणपरमात्मा का अर्थ है एकरूप ध्रुव त्रिकाल वस्तु, जो निर्मल पर्याय के प्रगट होने में कारण है, वह कारणपरमात्मा है और वही ज्ञायकभाव है। नियमसार शास्त्र भी कुंदकुंदाचार्यदेव के द्वारा बनाया गया है, उसकी टीका में अलौकिक गूढ़ बातें हैं। आचार्यों ने धर्म स्तंभों की तरह कार्य किया है। वे वीतराग शासन को स्थिर रखने में आधारभूत हैं। नियमसार की टीका में पद्मप्रभमलधारी आचार्यदेव ने महा गूढ़ रहस्य प्रगट किया है। अहा! कैसी अनुपम अध्यात्म की बातें हैं उसमें। कारणपरमात्मा को स्पष्टतया बता दिया है। यहाँ छठी गाथा में 'ज्ञायकभाव' में भी वही ध्वनि है। कारणपरमात्मा मोक्षमार्गरूप नहीं है और मोक्ष भी नहीं है, वह तो ध्रुव स्वरूप हैं और उसी के बल पर मोक्षदशा प्रगट होती है। मोक्ष का कारण कोई विकल्प नहीं है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निर्विकार पर्याय भी व्यवहार से मोक्ष का कारण हैं क्योंकि केवलज्ञानादि दशा अनंतगुणी शुद्ध है और सम्यग्दर्शनादि तो बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक केवलज्ञान से अनंतवें भाग की अधूरी दशा है। बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में जो ज्ञान, सुख, वीर्य इत्यादि है, उससे तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में अनंतगुणा ज्ञान, सुख, वीर्य होता है; इसलिये सम्यग्दर्शनादि व्यवहार से मोक्ष के कारण हैं। मोक्ष का निश्चय कारण तो उपरोक्त ज्ञायकभाव-कारणपरमात्मा है।

मोक्ष का कारण क्या है? परद्रव्य की बात तो है ही नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, यह जैन का प्रथम सिद्धांत मान्य करने के बाद ही दूसरी बात हो सकती है। देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, वह किसी के मोक्ष का कारण नहीं है। शुभ विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य-आनंद इत्यादि भी वास्तव में परिपूर्ण मोक्षदशा के कारण नहीं हैं क्योंकि बारहवें गुणस्थान तक अनंतवें भाग में अपूर्ण दशा है, यह तो अभी शास्त्र की बात है; आंतरिक अध्यात्म रहस्य तो अब आ रहा है। स्मरण रहे कि आत्मा क्या है, इसे जाने बिना चाहे जितने क्रियाकांड करके शरीर को सुखा लें तो भी धर्म नहीं होता। वस्तुस्वरूप को समझे बिना जन्म-मरण का अंत नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक मति-श्रुतज्ञान, वह केवलज्ञान का अनंतवां भाग है।

उस अनंतवें भाग के अपूर्ण ज्ञान को अनंतगुणे पूर्ण ज्ञान का कारण कहना, सो व्यवहार है। अपूर्ण ज्ञान में पूर्ण ज्ञान को प्रगट करने की शक्ति नहीं है परंतु जो अपूर्ण ज्ञान है, वह पूर्ण की जाति का है; इसलिये उसे व्यवहार से कारण कहा है। अनंतवें भाग का मतिश्रुतज्ञान निश्चयतः केवलज्ञान का कारण नहीं है; पूर्ण ज्ञान का कारण पूर्ण ही होना चाहिये। केवलज्ञान का निश्चय कारण तो मूल द्रव्य ही है। उस केवलज्ञान के कारणभूत द्रव्य को ही भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव ने नियमसार में कारणपरमात्मा के रूप में और समयसार में ज्ञायकभाव के रूप में वर्णन किया है। एक समय में द्रव्य में कितनी शक्ति भरी होती है, यह बताया गया है। एक-एक गाथा में आचार्यदेव ने अद्भुत रहस्य भर दिया है। एक-एक गाथा चौदह पूर्व के रहस्य को लिये हुये हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, वह भी वास्तव में अनंत केवलज्ञान का कारण नहीं होता। अनंत केवलज्ञान का वास्तविक कारण तो एक समय में जो त्रिकाल परिपूर्ण द्रव्य है, वही है। इस परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव का वर्णन भगवान कुंदकुंदाचार्य ने श्री समयसार जी में अचिंत्य और अलौकिक रीति से किया है। मैं सातवें अथवा छठे गुणस्थानवाला नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक हूँ, तथापि सातवें-छठे गुणस्थान में ही वर्तमान है किन्तु अखंड स्वभाव के बल पर उसका निषेध करते हुये कहते हैं कि मैं अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ।

दर्शनसार में श्री देवसेनाचार्य ने भगवान कुंदकुंदाचार्य के संबंध में कहा है कि—

जई पठमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।
ण विवोहई तो समणा कहं सुभागं पयाणंति॥

महाविदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर स्वामी के पास से प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुंदकुंदाचार्यदेव) ने यदि बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

श्री देवसेनाचार्य स्वयं मुनि हैं, वे कहते हैं कि श्री कुंदकुंदाचार्य ने साक्षात् भगवान के पास से दिव्यध्वनि का संदेश प्राप्त करके यदि उसका बोध भरतक्षेत्र को न दिया होता तो हमें यह सम्यक् बोध कहाँ से मिलता ? भगवान कुंदकुंदाचार्य ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, यही स्थिति इस महान् परमागम समयसार की है। बाहर से उसका भाव नहीं निकल सकता किन्तु यदि भीतर गहराई में उतर कर अंतरंग से समझे तो सच्चा माप निकल सकता है।

×××

आज श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का मंगल दिन है। श्री समयसारजी के गुजराती अनुवादक श्री हिम्मतभाई शाह (बी.एससी.) ने समयसार की जो स्तुति बनाई है, उसमें बहुत ही उत्तम भाव व्यक्त किये हैं, वह अर्थ सहित यहाँ दी जा रही है।

—:हरिगीत:—

संसारी जीवना भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभुवीर तें संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणा भीना हृदये करी,
मुनि कुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी॥

हे नाथ! हे कुंदकुंद प्रभु! आपने इस समयप्राभृत में अमृत की मूसलधार वर्षा की है। महावीर भगवान से बहाई गई श्रुतामृत की नदी सूख रही थी, वह आपने इस समयप्राभृतरूपी संजीवनी से जीवित रखी है।

स्तुति में प्रथम शब्द 'संसारी' है, क्योंकि जीव के अनादि से संसारदशा है। आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप का विकारभाव होता है, वह भाव 'मैं हूँ' ऐसा मानना, सो संसार है। आत्मा का संसार परवस्तु में नहीं है किन्तु अपने विपरीतभाव में संसार है। पैसा-स्त्री इत्यादि परद्रव्य है, उनमें संसार नहीं है किंतु उन परद्रव्यों में सुखबुद्धि और उनके रखने का भाव ही संसार है, वह संसारभाव प्रत्येक जीव के अनादि से है। संसारी जीव अपने अज्ञान से क्षण-क्षण में भावमरण में दु:खी हो रहा है। कुंदकुंद भगवान ने संसारी जीवों का भावमरण दूर करने के लिये करुणाकर संजीवनी सदृश समयसार की रचना की है।

भावमरण क्या है? आत्मा में क्षणिक विकारभाव होते हैं, उन्हें अपना मानना और चैतन्य स्वरूप के आनंद को न मानना, सो ही भावमरण हैं। जीवों को शरीर के छूट जाने का दु:ख नहीं है किन्तु भावमरण का ही दु:ख है। अपने आनंद को पर में मानते हुये आत्मा का स्वरूपमय जीवन नश्ट हो जाता है, यही आत्मा का भावमरण है, जो इस भावमरण को दूर करता है, वही सुखी है।

भावमरण ही हिंसा है। समयसार में कहा है कि—

—:वसंततिलका:—

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्मपरस्य
पश्यंति ये मरणजीवित दु:ख सौख्यम्।

कर्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्णवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्म हनो भवंति॥

(कलश १६९)

इस अज्ञान को पाकर जो पुरुष पर से अपना मरण-जीवन, दु:ख-सुख देखता है या मानता है और जो इस प्रकार अहंकार भाव से कर्मों के करने का इच्छुक है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है- अपनी आत्मा का घात करनेवाला है 'आत्महनो भवंति' अर्थात् जो यह मानते हैं कि मैं पर को मारता हूँ अथवा जिलाता हूँ, वह बहुत बड़ा हिंसक है, वह अपने आत्मा का ही घात करता है यही भावमरण है।

जो पर के कर्तृत्व के मिथ्या अहंकार के भाव से भावमरण में दु:खी हो रहे हैं, उनके लिये कहते हैं कि हे भाई! तू पर का क्या कर सकता है? तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता। तू अपने ही भाव को करता है। जो यह मानता है कि मैं दूसरे का कर्ता हूँ, उसे आचार्यदेव ने नियम से आत्महिंसक मिथ्यादृष्टि कहा है। मिथ्यात्व ही भावमरण है और यही दु:ख है।

हे कुंदकुंदनाथ! आपने दया करके जगत के जीवों के भाव मरणों को दूर किया है। समयसार की प्रत्येक गाथा में अद्‌भुत करुणा का प्रवाह बहाया है। जिसके अंतरंग में यह बीजारोपण हो गया और जिसके अंतरंग में यह बात रुच गई, उसने मानों अपने आत्मा में मोक्ष के बीज बोये हैं। 'मैं पर का कुछ भी नहीं कर सकता और पर मेरा कुछ भी नहीं कर सकता, मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न हूँ' इस प्रकार जिसने माना और विश्वास किया, वह स्वतंत्र आत्म-जीवन पूर्वक जीने वाला है और 'मैं पर का करता हूँ और पर मेरा करता है', इस प्रकार जो मानता है, वह आत्मस्वरूप का घातक हिंसावादी भावमरण में मर रहा है।

हे कुंदकुंद भगवान! आपने वह भावमरण टालने के लिये जगत पर परम उपकार किया है, आपने इस समयसार में अमृत की धारा बहायी है। महाविदेह की दिव्यध्वनि में से श्रुत की बड़ी-बड़ी नहरें भरतक्षेत्र में प्रवाहित की है। संसार में थके हुये जगत् के प्यासे जीवो यहाँ आकर इस ज्ञानामृत का पान करो और अपनी प्यास को बुझाकर मोक्ष में गमन करो... भय मत करो... आकुलित मत होओं, संसार एक ही समय का है। जिसके यह बात जम गई, मानों उसके मोक्ष दशा का मंडप रोप दिया। अब एक दो भव में ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली है। उसकी मोक्षदशा नहीं बदल सकती। एक दो भव में ही मोक्षदशा की नि:संदेह श्रद्धा अपने आप ही हो जाती, ऐसी बात है।

जब कोई युवक किसी कन्या के साथ विवाह करने को जाता है, तब साथ में अनेक समाज -प्रतिष्ठित लोगों को ले जाता है, इसका कारण यह है कि कदाचित् कन्या पक्षवाला बदल जाय और पैसा माँगने लगे, उस समय प्रतिष्ठा को धक्का न लगे, कन्या वापिस न हो सके, साथ में आये हुये प्रतिष्ठित बरातियों को ऐसा लगता है कि हमारे होते हुये भी कन्या वापिस हो गई तो हमारी नाक कटेगी। यदि कन्या को लग्न मंडप में आने में थोड़ा सा विलंब हो जाता है तो उथल-पुथल मच जाती है, तब अग्रगण्य बराती कन्या पक्ष की मांग को संतुष्ट करके कन्या के आने के समय में थोड़ा सा भी अंतर नहीं पड़ने देते।

इसी प्रकार स्वरूप लक्ष्मीवंत श्री कुंदकुंद भगवान कहते हैं कि हमारी बात को मानकर जिसने अपने आंगन में मोक्ष परिणति के साथ विवाह करने का लग्न मंडप बनाया है, उसकी मोक्षदशा वापस नहीं हो सकती-अल्प काल में ही वह मुक्त हो जाता है। हमारे साथ में आने पर भी मोक्षदशा में विलंब हो, यह नहीं हो सकता। विलंब होगा तो हम मोक्ष दंगे। जगत् के जीवों को परम सत्य समझाने का विकल्प हमारे मन में उठा, तब यह हो ही नहीं सकता कि भरतक्षेत्र में उसे समझने योग्य जीव न हों। हमारी वृत्ति खाली नहीं जा सकती, हमारे मन में वृत्ति उत्पन्न हुई, यही बतलाती है कि भरतक्षेत्र में भव्य जीव तैयार हैं, इसलिये तू हाँ कह, तेरी निर्मलदशा वापस नहीं जा सकती।

पुण्य-पाप का जो विकारभाव होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मैं ज्ञायक हूँ, इस प्रकार की प्रतीति ही आत्मा की दया है, यही सच्ची करुणा है। पहले अज्ञानभाव से आत्मा विकार में दब जाता था। अब ज्ञान होने पर आत्मा को विकार से पृथक् प्रतीति में लिया अर्थात् स्वरूप को पृथक् रखा, यही दयाधर्म है।

सरिता वहावी सुधातणी प्रभु वीर तें संजीवनी

यहाँ पर महावीर भगवान का नामोल्लेख हुआ है क्योंकि कुंदकुंदाचार्य के परंपरा गुरु तो महावीर भगवान ही हैं। महावीर प्रभु के लगभग ५०० वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य हुये हैं। उस समय जो कुछ अधूरा रह गया था, उसे श्री कुंदकुंदाचार्य ने सीमंधर भगवान के पास जाकर पूर्ण किया है। यह भावमरण को मिटाने के लिये संजीवनी औषधि है। अपने आत्मा को स्वरूप में सम्यक् प्रकार से जीवित रखे, ऐसी श्रद्धाज्ञानरूपी जो औषधि है, वह संजीवनी है। उस संजीवनी-अमृत की जो सरिता महावीर प्रभु ने प्रवाहित की थी, वह उनके बाद काल क्रम से कुछ सूखती चली जा रही थी।

उसे हे कुंदकुंदस्वामी! आपने समयप्राभृतरूपी संजीवनी के द्वारा पुनः भर दिया है। श्रद्धा-ज्ञानरूपी संजीवनी का प्रवाह इस समयसार की प्रत्येक गाथा में विद्यमान है।

भगवान महावीरस्वामी के बाद जब मार्गभेद हो गया और विभिन्न संप्रदाय प्रारंभ हो गये, तब सनातन वीतराग जैनमार्ग पर किसी प्रकार की आंच न आये, इसलिये कुंदकुंद भगवान ने समयप्राभृत के द्वारा अखंड सरिता प्रवाहित की थी। साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि का अमृत समयप्राभृत में भर दिया है और सनातनमार्ग को जीवित रखा है। नदी के पानी को भी रखने के लिये कोई उपयुक्त पात्र चाहिये, उसी प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि में से बरसते हुये अमृत को भरने के लिये यह समयप्राभृतरूपी पात्र है। सनातन जैन धर्म का महाप्रवाह तो अनादि से चला ही आ रहा था, किन्तु जब क्षुद्रकाल आया और परम सत्य में विरोध उत्पन्न होने लगा-दो भेद पड़ गये, तब भगवान कुंदकुंदाचार्य ने समयप्राभृतरूपी भाजन के द्वारा अमृत भर-भर के सनातन मार्ग के प्रवाह को जयवंत रखा है।

—अनुष्टुप—

कुंदकुंद रच्यूं शास्त्र साथिया अमृते पुर्यां।
ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्यां॥

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ४१५ गाथाओं में समयप्राभृत की रचना की है और अमृतचंद्राचार्य ने उस पर ४००० श्लोक प्रमाण टीका रची है, मानों समयप्राभृत के ऊपर कलश चढ़ा दिया है। इस भरतक्षेत्र में समयप्राभृत की टीका के समान अन्य किसी भी ग्रंथ की टीका वर्तमान में विद्यमान नहीं है। भगवान महावीर से ५०० वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य ने महान परमागम की समयप्राभृत की रचना की और उस रचना से एक हजार वर्ष बाद महा टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्य हुये। जैसे मोतियों का साथिया भरके चौक पूरा जाता है, उसी तरह प्रत्येक गाथा के रहस्य को इस टीका में स्पष्ट किया है।

यह समयप्राभृत तो ग्रंथाधिराज है, भरतक्षेत्र का अजोड़ चक्षु है, इस समयसार की बराबरी का वर्तमान जगत में कोई शास्त्र नहीं है। अमृतचंद्राचार्य महाराज ने टीका के अंत में (कलश २४५ में) कहा है कि यह अद्वितीय (बेजोड़) जगत्नेत्र है, यह विज्ञानघन आनंदमय आत्मा को प्रत्यक्ष करता है।

—अनुष्टुप—

इदमेकं जगच्चक्षु रक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघन मानंदमयमध्यक्षतां नयेत्॥२४५॥

आनंदमय विज्ञानघन को (शुद्ध परमात्मा को समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय अक्षय जगत चक्षु (समयप्राभृत) पूर्णता को प्राप्त होता है।

यह समयप्राभृत ग्रंथ वचनरूप में और ज्ञानरूप में दोनों प्रकार से जगत् को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न होता हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र, घटपटादिक को प्रत्यक्ष देखता है; उसी प्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखाता है।

यह अक्षय जगत् चक्षु है, उसका कभी क्षय नहीं होता। इस महान् ग्रंथाधिराज में अद्वितीय भाव भरे हैं। चौदह ब्रह्मांड के भाव इसमें भरे हुये हैं।

अमृतचंद्राचार्य ने उस टीका को नाटक के रूप में वर्णन किया है। बनारसीदासजी ने कलश के आधार पर जिस समयसार की रचना की है, उसका नाम भी 'समयसार नाटक' रखा है। नाटक का अर्थ क्या है ? जैसी किसी राजा का जीवन ७२ वर्ष का हो और यदि उसका जीवन नाटक के रूप में बताना हो तो उस नाटक के बताने में ७२ वर्ष नहीं लगेंगे किन्तु ३-४ घंटे में ही वह नाटक पूरा हो जाता है और अपने अल्प समय में ही राजा के ७२ वर्ष का सारा जीवन बता दिया जाता है, उसी प्रकार का यह समयप्राभृत नाटक रूप में है। इसकी ४१५ गाथाओं में आचार्यदेव ने परिपूर्ण आत्मस्वरूप को बता दिया है। एक-एक पद में अनादि-अनंत आत्मा दर्शा दी गई हैं। अनादि-अनंत आत्मस्वरूप को समझने में अनंत काल नहीं लगता। इस समयप्राभृतरूपी नाटक के द्वारा अल्प काल में ही जगत् के जीवों को आत्मा का सारा स्वरूप बता देना है। ज्ञानी का अंतरंग भिन्न है। संक्षेप में अतिगूढ़ रहस्य भर दिया है। प्रत्येक पद में परिपूर्णता बताई है, वह जगत की ऊपरी दृष्टि में दिखाई नहीं दे सकता।

इस समयप्राभृत को एकबार समझ लेने पर श्रोता को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। ('श्रोता' शब्द गुरुगम सूचक है। पहले अपने आप सब भाव नहीं समझे जा सकते, इसलिये यथार्थ ज्ञानी पुरुषों के द्वारा सुनकर समझने में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता इस हेतु से श्रोता शब्द रखा गया है)। अनादि-अनंत आत्मस्वरूप की पहिचान, मोक्षमार्ग का स्वरूप, बंध-मोक्ष का स्वरूप, उपादान-निमित्त का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप, कर्ता-कर्म का स्वरूप यह सब बिना कुछ बाकी रखे अल्प काल में ही बता दिया है। इस पंचम कालवर्ती श्रोता को सारा आत्मस्वरूप अल्प काल में बताना है। पात्र होकर समझे तो खबर पड़े; इसलिये कहा है कि "ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या" अर्थात् हे ग्रंथाधिराज ! तुझमें ब्रह्मांड के समस्त भाव भरे हैं।

—शिखरणी—

अहो! वाणी तारी प्रशमरस भावे नितरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी,
अनादिनी मूर्छा विषताणि त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति॥

हे नाथ! हे समयसार भगवान! तुम्हारी वाणी कैसी सुंदर है? आत्मा का उपशम रस-जो पुण्य-पाप रहित निराकुल प्रशम आनंद रस है, उसके भाव से तुम्हारी वाणी परिपूर्ण है। तुम्हारी वाणी में आत्मा का शांत स्वभावरस टपकता है। जैसी घी से भरे हुये बर्तन में गरम पूरनपुड़ी डुबोकर निकाली जाय तो वह पूरनपुडी भीतर से तो घी से परिपूर्ण हो ही जाती है किन्तु बाहर भी उससे घी चूता रहता है; उसी प्रकार तुम्हारी वाणी भीतर तो उपशमरस से परिपूर्ण है ही अर्थात् समझता है, उसे तो अंतरंग में आत्मा का शांत अमृत अनुभव होता ही है किन्तु बाहर भी उनकी दशा अद्‌भुत हो जाती है।

''मुमुक्षु ने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी''

यह वाणी मुमुक्षु जीवों को अमृत रस पिलानेवाली है, जिसे संसार का आताप—भय लगा हो, प्यास लगी हो, आत्मा की चाह-तृषा जागृत हुई हो, उन जीवों को यह समयसार की वाणी अमृत रस पिलाती है। वह जिसे रुचेगी, उसकी जन्म-मरण की तृषा दूर हो जायगी। भगवान कुंदकुंदाचार्य और अमृतचंद्राचार्य समयप्राभृतरूपी अंजलि भर-भरकर जगत् के भव्यात्माओं से कहते हैं कि लो रे लो! जन्म-मरण की प्यास को दूर करने के लिये अमृतपान करो, ऐसा अवसर बारंबार नहीं मिलेगा।

इस अमृत का पान करने से क्या होता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि ''अनादिनी मूर्छा विषतणी त्वराथी उतरती'' हे नाथ समयप्राभृत! तेरी पवित्र वाणी में ऐसे मंत्र भरे हैं कि अनादि कालीन विषमूर्छा एकदम उतर जाती है। तेरी वाणी के नाद से जो जागृत हो जाते हैं, उन्हें शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती है। यह समयसार जिसे रुच गया और मैं आत्मा हूँ, मेरे आनंद के लिये मुझे परवस्तु की आवश्यकता नहीं हैं, मैं स्वयं ही ज्ञानानंद से परिपूर्ण स्वाधीन तत्त्व हूँ, इस प्रकार की अंतर प्रतीति करके जो जागृत हो जाता है, उसे एक दो भव में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह तो भगवान कुंदकुंद की हुंडी हैं। जैसे साहुकार की हुंडी कभी भी वापिस नहीं होती; उसी प्रकार यहाँ

साहूकार [स्वरूप की सच्ची लक्ष्मीवाले] श्री कुंदकुंद भगवान की मुक्ति की हुंडी समयप्राभृत में हैं, वह कभी भी वापिस नहीं हो सकती। जिसने इस समयप्राभृत का अमृत पान किया हैं, उसका विषमूर्छा (अज्ञान) उसी क्षण टल जाती हैं। मूर्छा उतरने पर क्या होता हैं सो कहते हैं—

''विभावे थी थंभी स्वरूपभणी दोड़े परिणती''

अज्ञानभावरूपी विष मूर्छा के उतरने पर पुण्य-पापरूपी विभाव भावों से रुक कर परिणति निज स्वरूप की और दौड़ती है। यहाँ पर 'दौड़ती हैं, शब्द का प्रयोग करके पुरुषार्थ का बल बताया हैं। समयसार को [शुद्ध आत्मस्वरूप को] सुनने पर और उसे पहिचानने पर अपनी परिणति-अवस्था चैतन्य ज्योति आत्मस्वरूप की ओर जल्दी-जल्दी परिणमित होती हैं, देर करने वाले की कोई बात ही नहीं हैं।

—शार्दूलविक्रीडित—

तुं छे निश्चय ग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीनी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा,
साथी साधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भव क्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो॥

हे ग्रंथाधिराज! तू निश्चय का ग्रंथ हैं, परम शुद्ध आत्मस्वरूप को दिखानेवाला हैं, और व्यवहार के जो अनेक भेद हैं, उन्हें खंडित करके एकरूप अभेदस्वभाव को समझानेवाला है। ११ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—

ववहारोऽभूमत्थो भूयत्थो देसिदो दुसुद्धणओ।
भूमत्थमस्सिदोखलु सम्माईट्ठी हवइ जीवो॥

व्यवहारनय अभूतार्थ हैं और शुद्धनय भूतार्थ हैं; इस प्रकार ऋषिवरों ने बताया हैं। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि हैं।

व्यवहार अनेक भेदरूप हैं, इन भेदों को यह निश्चय ग्रंथ भेदता है। इस कथन में व्यवहार का स्वरूप भी सिद्ध होता ही है। व्यवहार है, इसलिये तो उसे भेदता है न? यदि व्यवहार न हो तो किसे भेदे। व्यवहार है तो अवश्य किन्तु वह भेदरूप है, इसलिये उसके लक्ष्य से अखंड स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। उस भेदरूप व्यवहार को भेदते-भेदते अभेदरूप को प्राप्त होता है। यह परमागम समयप्राभृत भेद को गौण करके अभेद को समझाता है, इसलिये निश्चयग्रंथ है। ज्ञानी के

भी साधकदशा में शुभभाव होता है किन्तु उसमें वे धर्म नहीं मानते। ज्ञानी होने पर उसी समय सर्वथा शुभभाव दूर हो ही जाते हों, सो बात नहीं है। धर्म का अवसर आने पर साधर्मियों के प्रति प्रेम उछल उठता है, ऐसे ज्ञानी होते हैं।

पद्मनंदि आचार्य दान अधिकार में लोभी से कहते हैं कि–कौवे को यदि जली हुई रोटी मिल जाय तो वह अकेला नहीं खाता किन्तु कांव कांव करके अन्य जाति बंधुओं को इकट्ठा करके खाता है। जली हुई रोटी को कौआ भी अकेला नहीं खाता। तूने पहले पुण्य किया और तेरे निर्विकार गुण जल गये (पुण्य विकार है, उसके द्वारा आत्मा के निर्विकार भाव को हानि पहुँचती है) गुण की हानि हुई और उसके फल में पैसे का संयोग मिला। अब यदि तू उसे अकेला खायेगा तो कौवे से भी गया बीता कहलायगा। जो पुण्य हुआ है, वह दोष से हुआ है, गुण से नहीं, इस गुण की हानि में जो पुण्य हुए, उसके फल से पैसा मिला। अब यदि राग–तृष्णा को कम करके धर्म प्रभावना इत्यादि में उसे न लगाये और अकेला खाया करे तो तू कौवे से भी गया–बीता है अर्थात् तुझे अत्यंत लोभ है। यहाँ पर लोभ के कुएं में गिरते हुए जीवों को बचाने के लिये कहा है। ज्ञानी के साधर्मीवात्सल्य, धर्मप्रभावना इत्यादि के शुभभाव होते हैं किन्तु वे शुभभाव में धर्म नहीं मानते। यह ग्रंथ आत्मा के अभेद स्वरूप को बतानेवाला निश्चयग्रंथ है और फिर—

''तुं प्रज्ञा छीणी ज्ञानने उदयनी संधि सहु छेदवा''

हे समयसार! तेरी वाणी स्वभाव और परभाव को भिन्न–भिन्न बतलाती है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है और रागादि भाव, कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिये वह उदय भाव हैं; इन दोनों के बीच भेदज्ञानरूपी छैनी मारकर दोनों के स्वरूप को भिन्न बतलाया है। मेरे ज्ञानानंद स्वरूप को बतानेवाला तू है, तेरा बहुत बड़ा उपकार है।

''साथी साधकनो तू भानु जगनो संदेश महावीरनो''

तू साधक का साथी है, जगत् का सूर्य है, अज्ञानांधकार को दूर करने के लिये तू केवलज्ञान दीपक है, तू ही महावीर का संदेश है, तुझमें दिव्यध्वनि का रहस्य भरा हुआ है।

''विसामो भव क्लांतना हृदयनो तू पंथ मुक्ति तणो''

जो चौरासी के अवतार से—भवभ्रमण से थक गया हो, जन्म–मरण के दुःखों से छूटकर जिसे स्वरूप की शांति प्राप्त करना हो, उसे हे समयसार! तुम विश्रांति स्वरूप हो। संसार से थके हुये जीव तुम्हारे आश्रय से विश्राम करते हैं और तुम्हीं मुक्ति का मार्ग हो।

—वंसततिलका—

सुण्ये तने रस निबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय,
तुं रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझता सकल ज्ञायकदेव रीझे॥

इस समयसार की-शुद्धात्मस्वरूप की बात सुनने से कर्मों का रस बंधन ढीला जो जाता है-दूर हो जाता है। इस ग्रंथ में बताये गये समयसाररूप शुद्धात्मा को जानते ही ज्ञानियों का अंतरंग-हृदय मालूम हो जाता है। शुद्धात्मा की रुचि होते ही परिपूर्ण आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जगत् में किसी की रुचि नहीं रहती और तेरे रीझने पर-प्रसन्न होने पर केवलज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा रीझ जाता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

—अनुष्टुप—

बनावुं पत्र कुंदननां रत्नोना अक्षरो लखी।
तथापि कुंद सूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी॥

अहा समयसार! तुम्हारे माहात्म्य को कैसे कहा जाय? इस चाँदी का तो क्या मूल्य किन्तु यदि सोने के पत्र बनाकर उनमें रत्नों के अक्षर लिखूं तो भी तुम्हारा मूल्य नहीं आंका जा सकता। बाहर से किसी भी प्रकार तुम्हारी महिमा नहीं आंकी जा सकती। अंतरंग स्वरूप में शुद्धात्मारूपी समयसार का ज्ञान होने पर उसकी जो महिमा जागती है तथा जो परिपूर्णानंदी स्वरूप की श्रद्धा ज्ञान और आनंद में एक दो भव में ही संसार का अंत होकर पूर्णानंदी दशा प्रगट होती है—ऐसे भगवान समयसार की क्या महिमा कही जाय? अर्थात् आत्मा के स्वरूप की पहिचान हो, तभी उसकी यथार्थ महिमा समझी जा सकती है और तभी इस समयसार की कीमत जानी जा सकती है।

इस प्रकार इस समयसार परमागम की स्तुति पूर्ण हुई।

पाप

परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी, जो जीव 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बंध नहीं होता'—ऐसा मानता है उसके सम्यक्त्व कैसा ? यह व्रत-समिति इत्यादि का पालन करे तो भी स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। मुझे बंध नहीं होता यों मानकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है, उसके भला सम्यग्दर्शन कैसा ?

यदि यहाँ कोई पूछे कि 'व्रत-समिति तो शुभकार्य है, तो फिर व्रत-समिति को पालने पर भी उस जीव को पापी क्यों कहा ?'

समाधान—सिद्धांत में पाप मिथ्यात्व को ही कहा है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक शुभ-अशुभ सर्व क्रिया को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा जाता है। फिर व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने के लिये शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

(समयसार, गुजराती पाना २५६)

मांगलिक प्रवचन

(फाल्गुन शुक्ला १ ता. २१-२-४७ को भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्घाटन के समय पूज्य श्री कानजी महाराज द्वारा दिया गया व्याख्यान)

आज भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्घाटन का मंगल दिन है। मंगल का अर्थ है जो पवित्रता को प्राप्त करा दे। यह आत्मा स्वयं ज्ञान और आनंद स्वरूप है, वह त्रिकाल मंगल स्वरूप है। आत्मा की रुचि और अनुभव से पर्याय में आनंद और पवित्रता आती है, यही मांगलिक है।

आत्मा के अतिरिक्त बाहर के किसी साधन से आनंद प्राप्त हो सकता है, यह कहना सो उपचार कथन है। आत्मा तो मन, वाणी और देह से परे ज्ञान दर्शन आनंद की मूर्ति है; शरीरादि बाह्य पदार्थों की क्रिया जड़ है। आत्मा, अज्ञानभाव से भी उसका कर्ता कदापि नहीं है। शरीर इत्यादि सर्व पदार्थ

सत्तावान हैं। आत्मा की सत्ता उससे भिन्न है। कोई आत्मा, परद्रव्यों के साथ मिलावट करने के लिये समर्थ नहीं है।

आत्मा की पर्याय में जो दयादि तथा हिंसादि के शुभाशुभभाव होते हैं, वे विकार हैं। अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को भूलकर उन क्षणिक विकारी भावों का कर्ता बनता है और उन विकारी भावों को आत्मा का कर्म (कर्तव्य) मानता है, किन्तु आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है, उसके आश्रय से कभी भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं होते।

धर्म आत्मा का स्वभाव है। यदि जीव स्वयं पात्र होकर सत्समागम से उस स्वभाव को समझे तो उसके धर्म प्रगट हो, अन्य कोई तीर्थंकर भी समझाने के लिये समर्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सत् है, आत्मा भी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सत् है। 'मैं सत् हूँ, मेरा ज्ञान आनंद इत्यादि मुझमें सत् हैं, परद्रव्यों अपने में सत् हैं, परद्रव्य में मेरा कोई अधिकार नहीं, मेरी सत्ता पर से भिन्न है, पर्याय में जो पुण्य-पाप होता है, वह विकार है, वह भी एक समयमात्र के लिये सत् है और मेरा त्रैकालिक सत् स्वभाव, पुण्य-पाप से रहित है।' इस प्रकार अपने शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही अपूर्व आत्मधर्म है और वह स्वयमेव मंगल हैं।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव के अंतरंग में अनंत सर्वज्ञ तीर्थंकरों का आशय भरा हुआ है। अनंत तीर्थंकरों और केवली संतों ने जो अनुभव करके कहा है, उसी प्रकार की बात अपने अंतरंग अनुभव में लाकर आचार्यदेव ने कही है। वे मुनिदशा में प्रवर्तमान थे। मात्र शरीर की नग्नदशा ही मुनित्व नहीं है किंतु आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उस स्वभाव में लीनतारूप स्थिरपर्याय के होने पर तीनों कषायों के अभावपूर्वक जो अंतरंग अनुभवदशा प्रगट होती है, वह आत्म पर्याय ही मुनिदशा है। क्षण-क्षण में अंतरंग आत्मानुभव की लीनता और विकल्प रहित होकर जो भावलिंगी मुनि दशा होती है, उसमें श्री कुंदकुंदभगवान रम रहे थे-झूल रहे थे।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है; उसकी श्रद्धा और एकाग्रतापूर्वक वह पूर्ण सामर्थ्य जिसकी पर्याय में प्रगट हुई हो, उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधरभगवान इत्यादि सर्वज्ञदेव बिराजमान हैं। श्री सीमंधरभगवान के पास कुंदकुंदाचार्यदेव गये थे और वहाँ आठ दिन रहे थे, इसमें शंका के लिये कहीं स्थान नहीं हैं। श्री कुंदकुंदभगवान को अंतरंग अनुभव तो था ही और वे श्री सीमंधरभगवान के पास से विशेष समाधान प्राप्त करके भरतक्षेत्र में आये थे। तत्पश्चात् समयप्राभृत, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ इत्यादि महाशास्त्रों की रचना शासन के सौभाग्य से कुंदकुंद प्रभु के विकल्प के निमित्त से और पुद्गल-परावर्तन के स्वतंत्र

परिणमन से हो गई थी। भगवान कुंदकुंद की दशा केवलज्ञान की अत्यंत निकटवर्ती थी। ऐसे श्री कुंदकुंद भगवान का अनंतानंत उपकार प्रवर्तमान है, उनके अपार उपकारों की जगत में विज्ञप्ति हो, इसलिये इस प्रवचन मंडप के साथ श्री कुंदकुंद भगवान का नाम जोड़कर इसका नाम भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप रखा है। उनने इस भरतक्षेत्र में श्रुत की अपूर्व प्रतिष्ठा की है।

आत्मा ज्ञानानंद मूर्ति है, वह तीन काल और तीन लोक में देहादि जड़ पदार्थों का कर्ता नहीं है। जड़ पदार्थों का अस्तित्व स्वतंत्र है। जो अपने को जड़ का कर्ता मानता है और जड़ के कार्यों का अहंकार करता है अर्थात् जड़ के कार्यों से अपने हानि-लाभ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, आत्मा के चैतन्यस्वभाव की हत्या करनेवाला है।

कर्म भी जड़ पदार्थ हैं, वे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते, आत्मा अपनी पर्याय में जैसा पुरुषार्थ करता है, वैसा कार्य होता है। कर्म जैसा करते हैं, वैसा होता है-यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। आत्मा कभी भी परद्रव्यों के आधीन नहीं है, स्वयं अपने ही पुरुषार्थ के दोष से रुका रहता है। अज्ञानी, वस्तु की स्वाधीनता को नहीं जानते; इसलिये वे अनंत काल से अपने पुरुषार्थ का दोष न देखकर परपदार्थ का दोष मानते हैं। यदि अपनी पर्याय के दोष को जान ले तो द्रव्यस्वभाव के बल से उसे दूर करने का प्रयत्न करे; किन्तु यदि कर्मों का ही बल माने और यह माने कि यदि कर्म मंद हों तो आत्मा में धर्म करने की पात्रता प्रगट हो, वह कदापि अपने स्वाधीन पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही गुण या दोष स्वयं किया करता है। आत्मा को पुरुषार्थ करने से कर्म इत्यादि कोई भी परपदार्थ नहीं रोकते और आत्मा अपने में चाहे जैसा (अनुकूल-प्रतिकूल) पुरुषार्थ करे किन्तु वह परपदार्थों में कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। जड़ पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होनी होती है, उस समय वह अवस्था स्वयं होती ही रहती है, उस समय अनुकूलरूप में उपस्थित रहनेवाले पदार्थ को निमित्त कहा जाता है; किन्तु वह जड़ के कार्य में किंचित्मात्र भी कुछ नहीं करता। यहाँ तो धर्म की बात है। प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता है, यह सर्व प्रथम समझना चाहिये। जड़ की अवस्था के साथ आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है, आत्मा के धर्म का संबंध उसकी अपनी पर्याय के साथ है। आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप के विकारीभाव नहीं हैं, विकारीभाव पुरुषार्थ की विपरीतता से स्वयं पर्याय में नवीन प्रगट करता है, उसमें कर्मोदय का कोई भी कार्य नहीं है। कर्मों का उदय जीव को राग-द्वेष कराता है, यह मानना, सो मिथ्यात्व है। कर्म विकार नहीं कराते, पुरुषार्थ की कमजोरी से पर्याय में विकार होता है, उससे लाभ नहीं है। परमार्थ से तो मैं पुण्य-पाप का भी ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके चैतन्यस्वभाव का अनुभव करना, सो धर्म है।

अनंतकाल से स्वतंत्र चैतन्यस्वभाव की रुचि और प्रतीति नहीं की। वह रुचि और प्रतीति करके आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट करना, सो अपूर्व मांगलिक है और यही प्रवचन मंडप का मांगलिक है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव भावप्राभृत की ८३ वीं गाथा में कहते हैं कि ''जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में ऐसा कहा है कि पूजादिक से और व्रत से पुण्य होता है तथा मोह और क्षोभरहित आत्मा का जो परिणाम है, सो धर्म है'' दया, व्रत-पूजादि का भाव जैनधर्म नहीं है किन्तु राग है-शुभबंध है। जैनधर्म तो वीतरागतारूप है, राग जैनधर्म नहीं है। रागरहित स्वभाव की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें ही रागरहित जो स्थिरता है, वही जैनदर्शन और आत्मदर्शन है, यही मोक्षमार्ग है और यही धर्म है। इसमें किसी का पक्ष नहीं है, यह कोई वेष नहीं है, यह जड़ की क्रिया नहीं और रागादिक के शुभ-अशुभभाव भी नहीं है, यह तो मोह और क्षोभ रहित आत्मा का ही शुद्ध परिणाम है।

पर जीवों को यह आत्मा कभी मार या बचा ही नहीं सकता। क्योंकि प्रस्तुत जीव और शरीरादिक वे सारे पदार्थ स्वयं अस्तिरूप हैं, और वे स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाववाले हैं, वे अपने अपने गुण-पर्यायों से युक्त हैं। उनका उत्पाद-व्यय कोई दूसरा नहीं कर सकता। जीव तो मात्र अपनी पर्याय में शुभ या अशुभ करता है और अज्ञानी उस भाव का कर्ता होता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है किन्तु उसे कर्तव्य नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि के भी अशुभ भाव से बचने के लिये शुभभाव होते हैं किन्तु उस भाव को वे राग समझते हैं और उससे कल्याण नहीं मानते।

प्रश्न—आप ऐसा कहते हैं कि आत्मा शुभभाव करता है किन्तु पर का कुछ कर नहीं सकता परंतु ऐसा समझने के बाद भी व्यवहार में तो पर के काम करने पड़ते हैं न ?

उत्तर—आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि वह पर का कुछ कर ही नहीं सकता फिर 'करना पड़ता है', यह प्रश्न ही नहीं उठता। 'खरगोश के सींग' ही नहीं होते, तब फिर उनके काटने का प्रश्न कहाँ से हो सकता है ? वस्तु का निश्चय-व्यवहार वस्तु में अपने में ही होता है, कहीं वस्तु से बाहर नहीं होता, इसलिये यह मान्यता भी मिथ्यादृष्टि की है कि व्यवहार में आत्मा, पर का कुछ कर सकता है। व्यवहार से आत्मा शुभभाव करता है किन्तु आत्मा ने शुभ किया, इसलिये बाहर की क्रिया होती है, यह बात नहीं है। पूजा, व्रतादि का भाव भी परमार्थ से मैं नहीं—ऐसी प्रतीति के साथ होता है, उस शुभभाव को व्यवहार कहते हैं और यह व्यवहार भी करनेयोग्य तो है ही नहीं। बाह्य क्रिया कदापि कर ही नहीं सकता, इसलिये 'वह करनी पड़ती है अथवा नहीं करनी पड़ती' इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं हैं।

अज्ञानी मानता है कि व्याप्य-व्यापकरूप में (एकमेक होकर) आत्मा, पर का भले ही कुछ न

कर सके, किन्तु पर के काम में निमित्त होता ही है। यों माननेवाला भी निमित्ताधीन दृष्टि होने से मिथ्यात्वी है। निमित्त-उपादान के नाम पर लोगों में बहुत गड़बड़ घुटाला चल रहा है। जब जब जिस वस्तु की क्रिया होती है, तब वह उसकी स्वतंत्र पर्याय से ही होती है और तब निमित्तरूप अनुकूल पदार्थ होता है किंतु एक बार तो ऐसी स्वतंत्र दृष्टि करनी चाहिये कि मेरा त्रैकालिक स्वभाव कभी किसी के लिये निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार निरपेक्ष दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

समयसार की आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने कहा है कि—

आत्माज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यतकरोति किम्
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

आत्मा ज्ञान है, स्वयं ज्ञान है, वह ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा क्या करता है, यह मानना कि आत्मा परभाव का कर्ता है, सो अज्ञानी-व्यवहारीजनों को मोह है। व्यवहारी अज्ञानी जीव अपने को परपदार्थ का कर्ता मानते हैं। अज्ञानभाव से भी आत्मा विकार करता है किन्तु पर में तो कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्न—आप व्यवहार को हेय कहते हैं, तब क्या सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों के भिन्न कथनरूप जो व्यवहार है, वह भी हेय है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप जानना सो व्यवहार है, व्यवहार को जानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि वस्तु के स्वभाव में ही कथंचित् गुण भेद है। किन्तु उस भेद को जानने पर छद्मस्थ के विकल्प उठता है, उस भेद के विकल्प का आश्रय लेना सो व्यवहार है। गुणभेदरूप व्यवहार तो वस्तु में ही हैं। पर का करने की शक्ति किसी वस्तु में नहीं है। पुण्य-पाप के भाव को जानना सो व्यवहार है। किन्तु उस पुण्य-पाप अथवा व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन ऐसी वस्तु है कि वह वाणी-विकल्प से नहीं पकड़ी जा सकती। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से भी वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह भी परवस्तु है। असंगी चैतन्य स्वभाव की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

जड़ की अवस्था जड़ से स्वतंत्र जैसी होनी हो, वैसी ही होती है; इस प्रकार की मान्यता नियतिवाद नहीं किन्तु सम्यक्श्रद्धा का कारण है क्योंकि वस्तुस्वभाव ही ऐसा है। जैसे जड़ की अवस्था स्वतंत्र क्रमबद्ध है; उसी प्रकार चैतन्य की अवस्था भी क्रमबद्ध स्वतः होती है। आत्मा में जिस समय जो पर्याय होनी होती है, वही क्रमबद्ध होगी, इस श्रद्धा में अनंत पुरुषार्थ है। जिसने एक समय की पर्याय को स्वीकार किया, उसे केवलज्ञान की और आत्मा की प्रतीति हो गई! जड़ की अवस्था उसके क्रमबद्ध नियमानुसार होती है, ऐसी श्रद्धा होने पर जड़ का ज्ञाता होकर उस ओर से

उदासीन हो जाता है। अब अपने में जो क्रमबद्ध अवस्था होती है, उसका आधार आत्मद्रव्य है-इस प्रकार द्रव्यदृष्टि हुई, अर्थात् पर्याय दृष्टि और राग की दृष्टि दूर हो गई। यों वस्तु स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान हुये बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती। क्रमबद्धपर्याय कहो या स्वतंत्र वस्तु पर्याय कहो, उसकी प्रतीति में ही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

जहाँ समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध अपने आप होती है, वहाँ यह बात ही कहाँ स्थिर रह पाती है कि 'निमित्त हो तो हो ?' पहले स्वतंत्र स्वभाव का ज्ञान करे और प्रत्येक पर्याय को भी स्वतंत्र स्वीकार करे, उसके बाद ही निमित्त का ज्ञान सच्चा होता है। जब तक स्वतंत्र द्रव्य-गुण पर्याय को नहीं समझता, तब तक जीव को निमित्त का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

जो निमित्त है, सो तो सम्यग्ज्ञान का विषय है। सम्यग्ज्ञान स्व और पर दोनों को जानता है। प्रथम निरपेक्ष स्वभाव को दृष्टि में स्वीकार किये बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और ज्ञान जब तक सच्चा नहीं होता, तब तक स्व-पर को यथार्थ रीत्या नहीं जानता। अन्य वस्तु है किन्तु उससे इस जीव में कोई भी विकृति नहीं होती, वह अपने पुरुषार्थ से ही होती है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य लोक में सर्वत्र है। जब पदार्थ चलता है, तब उसमें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है और स्थिर रहता है, तब अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। ज्ञानीजन वस्तु की स्वाधीन शक्ति को देखते हैं कि जिस पदार्थ में वैसी योग्यता है, वह अपनी शक्ति से चलता है या स्थिर रहता है। अज्ञानी पराधीन दृष्टि से देखता है कि निमित्त है, इसलिये ऐसा होता है और निमित्त के न होने पर ऐसा नहीं होता, इस दृष्टि में ही बहुत बड़ा अंतर है। निमित्त तो 'धर्मास्तिकायवत्' है। वस्तु अपनी शक्ति से जैसा कार्य करे, उसे वैसा निमित्त कहा जाता है। ऐसी वस्तु स्वभाव की स्वाधीनता की घोषणा कुंदकुंद भगवान और अनंत केवली पहले कर चुके हैं। अज्ञानी की संयोगी दृष्टि है और ज्ञानी की स्वभाव दृष्टि है। अज्ञानी कहता है कि योग्य निमित्त हो तो कार्य हो और ज्ञानी कहता है कि वस्तु में अपने स्वभाव से कार्य होता है, तब अनुकूल निमित्त प्रस्तुत होता ही है। प्रत्येक जड़ अथवा चैतन्य पदार्थ की अवस्था उस की अपनी शक्ति से (योग्यता से) होती है। **वस्तु की शक्ति त्रिकाल होती है और योग्यता एक समय मात्र की होती है।** जिस समय जैसी योग्यता होती है, उस समय वैसा कार्य अवश्य होता है। उदाहरण के रूप में मिट्टी द्रव्य को अन्य पदार्थों से भिन्न बताने के लिये यों कहा जाता है कि मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है किन्तु जब मिट्टी द्रव्य की ही पर्याय का विचार करना हो, तब तो मिट्टी में जिस समय घड़ा होने की योग्यता होती है, तब ही उसमें घड़ारूप अवस्था होती हे, उससे पूर्व उसमें पिंडरूपादि रूप अवस्था होने की योग्यता होती है। इस प्रकार कार्य होने की योग्यता एक ही समय

मात्र की होती है, इसलिये ऐसे प्रश्न का कोई अवकाश नहीं रहता कि कुम्हार के आने से पूर्व मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बन गया ? इसी प्रकार आत्मा में भी प्रत्येक पर्याय की योग्यता स्वतंत्र है।

जिस पर्याय में पुण्य-पापरूप विकार करता है, उस पर्याय में आत्मा का पुरुषार्थ ही वहाँ रुक जाता है। अन्य पर्याय में स्वभाव दृष्टि के पुरुषार्थ से उस योग्यता को बदल डाले तो बदल सकता है। इस तरह प्रत्येक समय की पर्याय भी पारिणामिक भाव से सिद्ध होती है। जैसे पर पदार्थ कारण नहीं है, उसी प्रकार पूर्व पर्याय भी कारण नहीं है, किन्तु उसी समय की योग्यता कारण है। कारण-कार्य में समय भेद नहीं है। विकार पर्याय भी पारिणामिक भाव से है, यह निश्चय होने के बाद निमित्त की अपेक्षा से उसे उदयभाव कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन में देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि बाह्य पदार्थ निमित्त कब कहलाते हैं ? जो स्वतंत्र निरपेक्ष द्रव्य को समझे, उसे उस आरोप से निमित्त कहा जाता है किन्तु जो स्वतंत्र द्रव्य को समझे ही नहीं उसके लिये तो वह सम्यग्दर्शन में निमित्त भी नहीं कहा जाता। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में आत्मा के अंतरंग शुद्ध परिणाम ही मूल कारण हैं।

नाटक समयसार में पं. बनारसीदासजी ने कहा है कि—

शिष्य प्रश्न करता है—आत्मा स्वाधीन है या पराधीन ?

उत्तर में श्री गुरु कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है। अज्ञानी पराधीनता का ऐसा अर्थ करते हैं कि कर्म इत्यादि परद्रव्य आत्मा को परतंत्र करके विकार कराते हैं किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। आत्मा को कोई परद्रव्य आधीन नहीं करता किन्तु आत्मा स्वयं स्व द्रव्यदृष्टि को भूलकर पर ऊपर दृष्टि करता है, तब वह विकारी होता है, यही पराधीनता है। स्वभावदृष्टि से जीव के विकार नहीं होता किन्तु पर ऊपर की दृष्टि से विकार होता है। इस अपेक्षा से पर्यायदृष्टि से आत्मा को पराधीन कहा जाता है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् है—स्वतंत्र है। अपने से सत् पदार्थ को पर से कुछ भी हानि लाभ होता है; इस प्रकार की मान्यता मिथ्याबुद्धि है। यदि आत्मा स्वभावदृष्टि करे तो स्वाधीनता प्रगट होती है और यदि पर्यायदृष्टि में अटक जाय तो पराधीन-विकारी होता है, परंतु दोनों में स्वयं स्वतंत्र है। पर लक्ष्य करके विकारी होता है तो भी स्वयं स्वतंत्ररूप में ही होता है, कोई पर पदार्थ उसे परतंत्र नहीं बनाता। वस्तु स्वभाव की स्वतंत्रता के इस संदेश को समझ लेना ही आत्मा के लिये मांगलिक है, उस स्वतंत्रता को समझने के लिये ही यह 'भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप' निर्मित हुआ है।

अपूर्व आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए कूदता हुआ-क्रियावान वीर्य चाहिए, उत्साह पूर्ण भाव चाहिए, पूर्णता की प्रतीति चाहिए। पूर्ण स्वभाव की ओर का उत्साह युक्त वीर्य केवलज्ञान को लेकर ही पूर्ण होता है।

भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप का उद्घाटन

सोनगढ़ (काठियावाड़) में फाल्गुन शुक्ला १ के प्रात: काल ८.०० बजे श्रीमान दानवीर सेठ सर हुकमचंदजी इन्दौर के शुभ हस्तों से भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप का उद्घाटन सानन्द संपन्न हुआ। इस समय सेठजी के साथ उनकी धर्म पत्नी दानशीला सौभाग्यवती कंचन बाई, सुपुत्र श्री राजकुमारसिंहजी तथा उनकी पत्नी और करीब ४५ अन्य कुटुम्बीजन पधारे थे। उन्हीं के साथ पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्त शास्त्री और पं.जीवनधरजी न्यायतीर्थ भी पधारे थे। सेठजी ने अपनी इस यात्रा को 'सोनगढ़ यात्रा' का नाम दिया है।

सेठजी फाल्गुन शुक्ला १ की रात्रि के पिछले भाग में करीब २.०० बजे सोनगढ़ पहुँचे थे। प्रात:काल में ७.०० बजे सार्वजनिक स्वागत करके उन्हें श्री प्रवचन मंडप में लाया गया था, वहाँ उनने अनेक मुमुक्षुओं और पूज्य श्री कानजी महाराज की उपस्थिति में श्री कुंदकुंद भगवान के जयघोष पूर्वक प्रवचन मंडप के मंगल द्वारों को खोला था।

द्वारोद्घाटन होते ही प्रवचन मंडप का विशाल भवन जनता से भर गया था। तत्काल ही सर सेठजी सा. बोलने के लिये खड़े हुये और आपने श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिए निम्नलिखित व्यक्तियों की ओर से ३५००५/- अर्पित किये। ७००१/- अपनी ओर से ७००१/-श्री राजकुमार सिंह की ओर से ७००१/- राजबहादुर सिंह की ओर से ७००१/- दानशीला सेठानी कंचन बाई की ओर से ७००१/- सौभाग्यवती श्री प्रेमकुमारी की ओर से।

इस दान घोषणा के बाद तत्काल ही श्री समयसार की स्तुति हुई थी और फिर ८.३५ बजे पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन प्रारंभ हुआ था। उसके पूर्ण होते ही सर सेठजी बोलने के लिये खड़े हुए। आपने कहा-मैं तो बहुत थोड़ा लाभ ले पाता हूँ, आप सब मुमुक्षु बहुत भाग्यशाली हैं जो श्री कानजी महाराज के ऐसे पवित्र उपदेश का सतत लाभ लेते रहते हैं। जैनधर्म का सद् उपदेश आप सब मुमुक्षु नरनारी सुनते रहते हैं, यह देख कर मुझे बहुत हर्ष होता है। अनादि कालीन दुख को दूर करने का और

यथार्थ आत्मसुख प्रगट करने का यही उपाय है। मुझे अपने मन में ऐसा लगता है कि मैं अपनी सारी संपति इस सत्य धर्म की प्रभावना के लिए न्यौछावर कर दूँ तो भी कम है, तथापि मैं जो यह अतितुच्छ भेद दे सका हूँ उसके लिये क्षमा चाहता हूँ और यह भावना करता हूँ कि इस संस्था के द्वारा प्रतिदिन सत्यधर्म की वृद्धि होती रहे।

इसके बाद अध्यक्ष श्री रामजीभाई ने श्री सेठजी इत्यादि के पधारने के उपलक्ष में उनके प्रति आभार व्यक्त किया था, और भावनगर के दीवान साहब की ओर से आया हुआ शुभ संदेश सुनाया था, जो इस प्रकार है—''श्री कानजी स्वामी जैसे पवित्र आत्मा हमारे राज्य में हैं, उनसे हमारा राज्य अत्यंत गौरवयुक्त है।''

अध्यक्ष महोदय ने सत्य धर्म के प्रचार की भावना को व्यक्त करते कहा कि सत्य धर्म का लाभ लेने वाले मुमुक्षुजन दिन-प्रतिदिन खूब बढ़ते जा रहे हैं। हम तो यह चाहते हैं कि इसका लाभ लेनेवाले मुमुक्षु इतने हो जाय कि यह मंडप भी लोगों के लिए पर्याप्त न हो, और अल्प समय में ही इससे भी बड़ा मंडप निर्माण करवाना पड़े। हमारा विश्वास है कि यह बात निश्चय से जल्दी ही सत्य सिद्ध होगी।

दूसरे दिन श्री दीवान साहब की अध्यक्षता में सर सेठजी को एक अभिनंदन पत्र समर्पित किया गया था।

विशेष महत्त्व की बात यह है कि इस समय तत्त्व चर्चा अत्यंत संतोष पूर्वक हुई थी। पं. जीवंधरजी इस से पूर्व दो बार यहाँ आ चुके थे किन्तु पं. देवकीनंदनजी शास्त्री प्रथम बार ही पधारे थे, उन्हें इस तत्त्व चर्चा से बहुत आनंद प्राप्त हुआ। उनने अनेक बार पूज्य श्री कानजी महाराज से कहा कि अभी तक हमारी समझ में बहुत बड़ी भूल थी, आज हमें आपने ही सत्य समझाया है। आजतक हम अपनी दृष्टि से शास्त्रों के अर्थ बिठाते थे किन्तु शास्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है, यह आपने ही सिखाया है। हमारी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, व्रत, त्याग इत्यादि सब भूल भरा था, यह अब ज्ञात हुआ है। पं. जी को तीन दिन के परिचय से बहुत संतोष और आदरभाव हुआ।

पूज्य श्री कानजी महाराज ने कहा कि अभी तक बहुत से पंडित आये किन्तु ऐसा सरल कोई नहीं दिखाई दिया, इन्हें सत्य को स्वीकार करने में विलम्ब नहीं लगता।

रायबहादुर कुंवर राजकुमार सिंह भी तत्त्वचर्चा में सूक्ष्मता से भाग लेते थे, और सूक्ष्म चर्चाओं को बराबर बुद्धि ग्राह्य करते थे। सर सेठजी की सुपुत्री श्रीमती चंद्रप्रभाबाई ने भी तत्त्व स्वरूप को सुंदरता के साथ ग्रहण किया और सत् के प्रति उल्लास होने पर उनने पूज्य श्री कानजी महाराज के प्रति भक्ति भाव को प्रगट करता हुआ एक अत्यंत भाव पूर्ण काव्य बनाकर फाल्गुन शुक्ला ३ की रात्रि को गाया और उसके बाद वे सब उसी रात्रि को स्पेशल ट्रेन द्वारा वींछिया ग्राम पधारे थे।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१८-०३-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड